शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी : एक जीवंत धरोहर

उदयन वाजपेयी
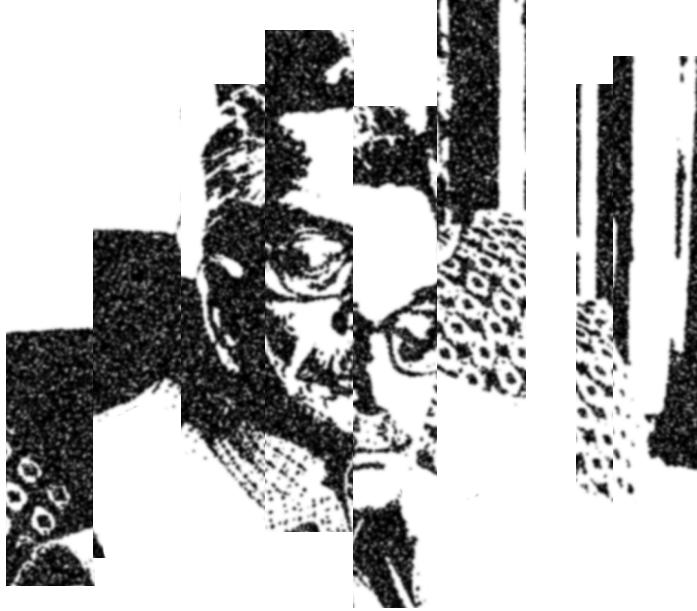
बीते बरस के दिसंबर महीने की पच्चीस तारीख़ को भारत के श्रेष्ठ उपन्यासकार, साहित्य-सिद्धांतकार और मुझ नाचीज़ के अज़ीज़ जनाब शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी का निधन हो गया। उन्हें कोविड संक्रमण होकर ठीक हो गया था। लेकिन अपने फेफड़ों की कमज़ोरी पर यह बीमारी उन्हें भारी पड़ी। उनके जाने से कितनी जगहों पर ख़ालीपन पैदा होगा, यह हमें धीरे-धीरे पता चलता रहेगा। हम जाने कितनी बार सोचेंगे, 'फ़ारूक़ी होते तो ये हो सकता!' अपनी इस बीमारी के दौरान वे अस्पताल आते और जाते रहे। दिल्ली में वे अपनी बेटी प्रोफ़ेसर बाराँ फ़ारूक़ी के साथ रहते थे। उनकी दूसरी बेटी मेहर अफ़्शाँ अमरीका के एक विश्वविद्यालय में उर्दू साहित्य की प्रोफ़ेसर हैं। वे भी फ़ारूक़ी साहब की तबीयत बिगड़ने के समय भारत आ गई थीं। उनके अस्पताल में रहने के दौरान मेरी उनसे एक बार फ़ोन पर बात हुई थी। वे इलाहाबाद जाने की ज़िद पकड़े हुए थे। अस्पताल में रहना उन्हें बिल्कुल भी नहीं सुहा रहा था। मैं बाराँ जी से उनके हाल-चाल लगभग हर रोज़ पूछ लेता था। उस दिन उन्होंने जब मुझे यह बताया कि वे अस्पताल छोड़ने की ज़िद कर रहे हैं, मैंने उन्हें फ़ोन कर धीरज रखने का आग्रह किया। उन्होंने बुझे मन से मेरी बात सुनी और निराशा में भरकर अस्पताल में रहने को राज़ी हो गए। यह मेरी उनसे आख़िरी बातचीत थी। उनकी उस खरखराती आवाज़ का मेरा आख़िरी अनुभव। उनके बोलने में एक ख़ास क़िस्म की लचक थी। यानी वे इस तरह बोलते थे कि उन्हें

सुनते समय यह अंदाज़ लगाना नामुमकिन था कि उनकी आवाज़ के सहारे हम कहाँ पहुँचने वाले हैं। उसमें एक आकर्षक बहाव था पर किसी ऐसी नदी का नहीं जो बने-बनाए रास्ते पर बह रही हो, बल्कि पानी का ऐसा बहाव जो हर क्षण ऐसा भाव जगाता हो कि वह कई दिशाओं में से कोई भी ले सकता है। उनकी आवाज़ किसी अध्येता की तरह गुरु-गंभीर न होकर गाँव के किसी बुज़ुर्ग की सी हल्कापन लिए हुए थी, इस आवाज़ में वही हल्कापन था जिसे प्लेटो ने 'वह हल्की पंखों वाली चीज़' कहते हुए कविता के मर्म को चिह्नित करने का प्रयास किया था।

पाँच या छह बरस पहले हमने *समास* में फ़ारूक़ी साहब से एक लंबी बातचीत प्रकाशित करने का मन बनाया। हमें यह पता था कि वे ख़ासे ज़ईफ़ हैं। उनका बौद्धिक आतंक भी मुझ पर कम नहीं था। न होता भी कैसे? मैंने उनका लिखा जो कुछ भी पढ़ा था वह इतने ऊँचे स्तर का था कि जिसकी कोई मिसाल भारत के किसी और लेखन से देना मुश्किल है। मिसाल के तौर पर उनका उपन्यास *कई चाँद थे सरे आसमाँ* का विस्तार। वह एक मिनिएचर चित्र में बनी आकृति के एक सचमुच की स्त्री से साम्य होने पर हुई घटना से शुरू होकर आख़िरी मुग़ल बादशाह, बहादुर शाह ज़फ़र के शहज़ादे की मृत्यु पर ख़त्म होता है। इस बीच कई अंग्रेज़ अफ़सर, दाग़ देहलवी की माँ वज़ीर ख़ानम, ग़ालिब और भी अनेक चरित्रों की जीवंत दीर्घा से गुज़रता हुआ हमें हमारी सभ्यता के एक ऐसे पहलू से अवगत कराता है जिसकी इतनी जीवंत समझ कहीं और उपलब्ध नहीं है।

उसे पढ़कर यह अहसास गहराता है कि भारत के मुसलमानों को सिर्फ़ *क़ुरआन* के आधार पर विश्लेषित करना कितना बचकाना है (जैसे किसी स्मृति ग्रंथ के आधार पर हिंदुओं को, मनुष्य का मर्म किसी भी ग्रंथ में निःशेष नहीं हो सकता) क्योंकि मुसलमान *क़ुरआन* को मानते हैं तो उनका मन उर्दू और फ़ारसी की उस शायरी से भी गहरे तक प्रभावित है जो इस्लाम पूर्व के ईरान और भारतीय दार्शनिक दृष्टियों के संयोग से बनी है। साथ ही हज़ारों ऐसे रिवाज भी उनको प्रभावित किए रहते हैं जिन्हें इस देश में जगह-जगह संपन्न किया जाता है, जिसमें सभी भारतीय साझा करते आए हैं। दूसरे शब्दों में हमारे राजनेता मुसलमानों का जो सरलीकृत चित्र पेश कर हमें विभाजित करते जा रहे हैं, वह ग़लत-सलत है और हम सब भारतीय थोड़े-थोड़े सनातनी हैं, थोड़े-थोड़े बौद्ध, थोड़े-थोड़े मुसलमान, थोड़े-थोड़े पारसी, थोड़े-थोड़े सिक्ख आदि-आदि। इन्हें अलगाने के लिए इनमें से हरेक की शल्यचिकित्सा करनी होगी।

मैंने डरते-डरते एक सुबह उन्हें फ़ोन लगाया। उस ओर से आती उनकी आवाज़ मेरे लिए अजनबी नहीं थी। मैं उनसे एक बार आगरा में तक़रीबन पंद्रह बरस पहले मिल चुका था। वहाँ उर्दू के देवनागरीकरण पर एक गोष्ठी आयोजित हुई थी जिसमें मुख्य वक्तव्य वागीश शुक्ल का था और मुख्य उपस्थिति फ़ारूक़ी साहब की थी। इससे भी पहले भारत भवन के बेहतर दिनों में मैं फ़ारूक़ी साहब का काव्यपाठ सुन चुका था। लेकिन तब तक मुझे उनकी विराटता का वैसा गहरा अहसास नहीं था जो मुझे उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ने के बाद हुआ था। उस सुबह वे इलाहाबाद में ही थे। मेरे यह कहने पर कि मैं उनसे *समास* के लिए लंबी बातचीत करना चाहता हूँ, उन्होंने मुझे जितना बन सका, पूरी सहजता से हतोत्साहित किया। मुझे यह कहा कि यह सब करने का कोई अर्थ नहीं है, इससे कुछ

होता नहीं है, जिस देश में लोग पुस्तकें ही नहीं पढ़ते वे लेखक से बातचीत क्या पढ़ेंगे। पर मुझे पता था कि फ़ारूक़ी साहब को जानने की बहुत से पाठकों की इच्छा होगी। उन्हें आज नहीं तो कल लोग पढ़ेंगे ही। ऐसे लेखक के जीवन और विचारों से हिंदी भाषिक संस्कृति समृद्ध ही होगी। वे मुझे कुछ देर हतोत्साहित करते रहे पर विफल रहे। आख़िरकार मैंने उन्हें बातचीत के लिए मना लिया। तब तक यह तय नहीं हो पाया कि यह बातचीत कहाँ होगी, इलाहाबाद में या दिल्ली में। वे इन दोनों ही शहरों में रहते थे। इलाहाबाद में कुछ ज़्यादा, दिल्ली में कुछ कम। भारतीय डाक सेवा से निवृत्त होकर फ़ारूक़ी साहब इलाहाबाद में ही बस गए थे। उनकी पत्नी जमीला जी ने वहाँ एक स्कूल बनवाया था। उनके गुज़र जाने के बाद उसकी देख-रेख का ज़िम्मा फ़ारूक़ी साहब और उनकी बेटी बाराँ पर रहा है। यहाँ यह याद करना शायद बेहतर हो कि जिस पत्रिका *शबख़ून* का प्रकाशन और संपादन फ़ारूक़ी साहब ने कई दशकों तक किया और जिसके फलस्वरूप उर्दू साहित्य में लेखन की अनेक नई क़िस्मों को प्रकाश में आने का अवसर मिला, उसे जमीला जी का सहयोग प्राप्त रहा था। अगर मैं ग़लती नहीं कर रहा तो *शबख़ून* के प्रकाशन का वित्तीय भार जमीला जी ने ही उठाया था। फ़ारूक़ी साहब की आत्मीय बातचीत में वे अक्सर अदृश्य रूप से उपस्थित रहा करती थीं। यह एक संयोग ही होगा कि फ़ारूक़ी साहब की मृत्यु भी लगभग उन्हीं स्थितियों में हुई जिनमें जमीला जी की हुई थी : फ़ारूक़ी साहब भी जमीला जी की तरह ही जैसे ही दिल्ली से इलाहाबाद के अपने घर में पहुँचे, उन्होंने यह संसार छोड़ दिया।

कई बार फ़ोन पर बातचीत के बाद यह तय हुआ कि हम दिल्ली में प्रोफ़ेसर बाराँ के घर पर ही तीन बैठकों में बात करेंगे। मैं उन नागरिकों में नहीं हूँ जो दिल्ली जैसे नगर में सिर्फ़ लिखे हुए पते के आधार पर अपना गंतव्य ढूँढ़ ले। इसलिए, ज़ाहिर है, मैं इधर-उधर भटकने के बाद उनसे मिलने तयशुदा वक़्त पर नहीं पहुँच सका। ग़नीमत यह थी कि उस सुबह खुद फ़ारूक़ी साहब भी कुछ देर से ही ग़ुसल के लिए गए थे। मैं कुछ देर पहली मंज़िल के उस घर की बैठक में अकेला बैठा रहा। एक बेहद शिष्ट महिला मेरे आगे चाय की केतली और कप रखकर भीतर चली गईं। उन्हें वे 'उस्तानी जी' कहकर बुलाते थे। उन्होंने बाराँ जी की बच्ची को *क़ुरआन* पढ़ाई है इसलिए उन्हें इस तरह संबोधित किया जा रहा था। कमरे में किताबों के कुछ शेल्फ़ थे जिनके काँच के भीतर से उनके शीर्षक बाहर झाँक रहे थे। जब मैं उनमें अपनी पढ़ी हुई किताब को पाता, मैं कुछ सहज होने लगता। और जब कोई ऐसी किताब पाता जिसे मैंने तब तक पढ़ा नहीं था, मैं उसके विषय में कुछ-कुछ जिज्ञासु होने लगता और यह भूल जाता कि मैं उस कमरे में क्यों बैठा हुआ हूँ। जब कुछ देर बाद ख़ूबसूरत सफ़ेद कुर्ते और पायजामे में फ़ारूक़ी साहब वहाँ आए, मुझे यह तो लगा ही कि आख़िरकार मेरी उनसे भेंट हो गई पर यह भी लगा कि मानों मैं उनसे अचानक मिल गया हूँ।

उन्होंने पूरी गर्मजोशी से मुझे गले से लगाया और चाय की केतली के साथ ख़ाली पड़े कपों को देखकर बोले, 'तुमने अब तक चाय नहीं बनाई? तुमको तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत थी?' उनके इन दो वाक्यों के ज़ोर से मैं उनके क़रीब आ गया। इसके कुछ देर बाद हमारी बातचीत शुरू हो गई और क़रीब तीन-तीन घंटों तक तीन सुबहों तक

चली। हर दिन की बातचीत के बाद हम साथ बैठकर खाना खाते और गप्पें करते। वे कभी-कभी बोलते हुए थक जाते तो कह देते कि 'भाई, अब थकान हो गई, कुछ देर रुककर चाय पीते हैं।'

2

हमने बमुश्किल उन्हें ग़ालिब और मीर पर व्याख्यान देने भोपाल आने पर राज़ी कर लिया। बमुश्किल इसलिए क्योंकि वे भोपाल आना तो चाहते थे पर उनकी सेहत उन्हें इसकी इजाज़त नहीं दे रही थी और उनका भोपाल आना लगातार टल रहा था। पर आख़िरकार उनकी भोपाल आने की इच्छा और हमारे इसरार की ताक़त उन्हें भोपाल ले ही आई। वे चाहते थे कि वे भोपाल डाक विभाग के गेस्ट हाउस में ही रुकें, इससे हमारा उन्हें ठहराने का ख़र्च कम हो सकता। वे हवाई अड्डे से सीधे वहाँ पहुँचे, उनके साथ बाराँ जी भी थीं जिन्हें फ़ारूक़ी साहब के व्याख्यानों के बाद उन्नीसवीं शती की उर्दू की गद्य लेखिकाओं पर वक्तव्य देना था। गेस्ट हाउस की दीवारों से सीलन की गंध आ रही थी। उनके कमरे में यह गंध कुछ ज़्यादा ही थी। लेकिन इसके बावजूद वे चुप रहे आए। उनके प्रति चिंता में भरकर बाराँ ने ही हमसे कहा कि उन्हें कहीं और ठहरना चाहिए। हम इसके लिए सहज ही तैयार थे।

वे जिस कमरे में ठहरे थे उसमें उनसे मिलने आने वाले उर्दू लेखकों की ख़ासी बड़ी संख्या थी। उनके व्याख्यानों में भी बड़ी संख्या में श्रोता एकत्र होते थे। शहर के उर्दू लेखक उनके भोपाल आने से बहुत ख़ुश थे और हमारे प्रति कृतज्ञ थे। दो शाम वे ग़ालिब और मीर की शायरी पर बोले, तीसरी शाम उर्दू के अनूठे उपन्यासकार ख़ालिद जावेद से उनका सार्वजनिक संवाद हुआ। इन तीनों ही अवसरों पर फ़ारूक़ी साहब बहुत धीरज और सहजता से कठिन-से-कठिन प्रत्ययों की अद्वितीय व्याख्या करते रहे। ग़ालिब और मीर के कई अशांआर उनकी आवाज़ में जिस ख़ूबसूरती से उद्घाटित हुए, वह यादगार था। अपनी कमज़ोर सेहत के बावजूद, वे अपने पुराने दोस्त और उर्दू के अफ़सानानिगार इक़बाल मजीद से मिलने उनके घर गए और इक़बाल साहब के परिवार के हर सदस्य से उसी आत्मीयता से मिले जैसे वे

भारत भवन के बेहतर दिनों में मैं फ़ारुक़ी साहब का काव्यपाठ सुन चुका था। लेकिन तब तक मुझे उनकी विराटता का वैसा गहरा अहसास नहीं था जो मुझे उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ने के बाद हुआ था। उस सुबह वे इलाहाबाद में ही थे। मेरे यह कहने पर कि मैं उनसे *समास* के लिए लंबी बातचीत करना चाहता हूँ, उन्होंने मुझे जितना बन सका, पूरी सहजता से हतोत्साहित किया।

इक़बाल मजीद से मिले थे। उनके बीच ज़्यादा बातचीत नहीं हो सकी। इक़बाल साहब को मुश्किल से सुनाई पड़ता था और फ़ारूक़ी साहब देर तक ज़ोर-ज़ोर से नहीं बोल सकते थे। लेकिन इससे उनके बीच बहती आत्मीयता में थोड़ी भी कमी आई नहीं लगती थी।

3

हमारी गाड़ी जब इलाहाबाद स्टेशन पर पहुँची, फ़ारूक़ी साहब का भेजा ड्राइवर हमारा इंतज़ार कर रहा था। उन्होंने दो दिन पहले ही मुझसे

हमारी यात्रा का कार्यक्रम पूछ लिया था। हम एक ऐसी रेलगाड़ी से इलाहाबाद पहुँचने वाले थे जिसके बारे में उन्हें पता नहीं था। पहले तो उन्हें यह लगा कि हमने कोई ग़लत-सलत गाड़ी चुन ली है जो इलाहाबाद जाएगी ही नहीं और हम कहीं के कहीं पहुँच जाएँगे। (उन दिनों तक रेलगाड़ियाँ अपना गंतव्य भूली नहीं थीं, वो तो भला हो प्रवासी मज़दूरों की वापसी की मजबूरी का कि हमारी रेलगाड़ियों पर से अपने गंतव्यों को याद रखने का बोझ हट गया।) लेकिन जब मैंने उन्हें रेलवे की समय-सारणी ही भेज दी तब जाकर उन्हें यक़ीन आया कि हम सचमुच उनके शहर जाने वाली गाड़ी में यात्रा करने वाले हैं। हमारे पहुँचने के लगभग चौबीस घंटे पहले से ही उन्हें इस बात की चिंता सताने लगी थी कि हमें लेने कौन जाएगा, उसे घर से कितना पहले निकलना होगा कि वह समय पर स्टेशन पहुँच जाए, आदि। हमारे गाड़ी में रहते हुए भी उनका दो-एक बार फ़ोन आ गया था। हम उनके चिंतित होने पर चिंतित थे।

जब हम हेस्टिंग्स रोड के उनके घर पहुँचे, वे भीतर के बरामदे की कुर्सी पर बैठे थे और उनके सामने की मेज़ पर चाय की केतली, कप और चम्मच रखे थे। उन्होंने पूरे विस्तार से मेरे बेटे हुताशन से हमारे सफ़र की जानकारी ली और हमसे बातचीत करने लगे। हम अगले कुछ घंटे वहीं बैठे गपियाते रहे। मुझे इस बीच उस कमरे की एक झलक दिख चुकी थी जहाँ बैठकर वे लिखते थे। वे थककर कुछ देर आराम करने अपने कमरे की ओर चल दिए और मैं उनसे पूछकर उनकी 'स्टडी' में जाकर बैठ गया। वह कमरा किसी भी लेखक का सपना हो सकता था। चारों दीवारों पर छत तक जाते रैक्स थे जिनमें हज़ारों की संख्या में अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं की किताबें रखी थीं। उन किताबों को क़रीब से देखकर यह अंदाज़ लगाना मुश्किल नहीं था कि यह जीवंत पुस्तकालय है। यहाँ की किताबों को लगातार पढ़ा जाता है। कमरे के एक तरफ़ मेज़ पर कंप्यूटर रखा था जिसके सामने एक कुर्सी थी। मुझे पता था कि फ़ारूक़ी साहब सीधे कंप्यूटर पर भी लिखते हैं। पर यह भी सच था कि कंप्यूटर पर काम करने कोई व्यक्ति उनके पास आया करते थे। कमरे के दूसरी ओर बड़ी-सी मेज़ थी जिसके एक ओर वह कुर्सी थी जिस पर बैठे हुए फ़ारूक़ी साहब को मैंने तस्वीर में देखा था, मेज़ के दूसरी ओर तीन कुर्सियाँ रखी थीं जिस पर उनसे मिलने वाले बैठते थे। उस दिन सारी दोपहर हम उन्हीं कुर्सियों पर बैठे रहे और सामने अपनी जगह पर बैठकर फ़ारूक़ी साहब हमें उर्दू के बेहतरीन समकालीन शायर मुनीर नियाज़ी की ग़ज़लें और नज़्में सुनाते हुए उनकी अनोखी व्याख्या करते रहे। यह जानते हुए कि वे उर्दू शायरी की शास्त्रीय परंपरा के हामी है, मुझे उनसे अपने पसंदीदा शायर मुनीर नियाज़ी का ज़िक्र करने में भी संकोच हो रहा था कि कहीं वे मेरी इस पसंद को सुनकर चिढ़ न जाएँ। मेरी ख़ुशक़िस्मती थी कि मुनीर नियाज़ी फ़ारूक़ी साहब की कठिन कसौटी पर भी खरे उतर चुके थे, इसीलिए मेरे उनका ज़िक्र करने पर वे मुझसे न सिर्फ़ नाराज़ नहीं हुए बल्कि मुझे उस पूरी दोपहर उनकी शायरी सुनाते और समझाते रहे। कई पाठकों को यह लगता है कि कोई भी कविता बिना कवि-समय को जाने पढ़ी जा सकती है। यह एक हद तक शायद सच भी हो पर कवि-समय जाने बग़ैर कोई भी पाठक

कविता के सूक्ष्म आशयों या व्यंजना को शायद ही समझ सकेगा। यह बात उर्दू और फ़ारसी कविताओं के लिए और अधिक सही है। कवि-समय से हमारा आशय उन रिवायतों या काव्य-रूढ़ियों से है जिनका संकेत रूप में हर भाषा का कवि अपनी तरह से निर्वाह करता है। इन रिवायतों को जाने बग़ैर कविता में उपस्थित उनके संकेतनों को समझना मुश्किल होता है। आनंदवर्धन ने सदियों पहले यह कहा भी था कि कविता को व्याकरण और शब्दकोश के सहारे नहीं पढ़ा जा सकता, उसे पढ़ने के लिए पाठक का सहृदय होना आवश्यक है। सहृदय वह पाठक है जो कविता में निहित सूक्ष्म संकेतों को कवि-समय के आलोक में पढ़ पाता है। इसीलिए उसका संस्कार संपन्न होना आवश्यक माना गया है। कविता का पठन, जैसा कि वागीश शुक्ल ने कहा है, प्राचीन लिपियों को पढ़ने जैसा कार्य है और इसे कवि की भाषा की रिवायतों के सहारे ही संपन्न किया जा सकता है। ये रिवायतें कविता को बाँधती नहीं, बल्कि पाठ को उसके मर्म तक जाने का रास्ता प्रशस्त करती हैं। उन्हें कवि की कल्पना को उसकी काव्य परंपरा का आधार देने वाली भूमि भी कह सकते हैं। फ़ारूक़ी साहब ने इस दिशा में भी अपूर्व कार्य किया है। उन्होंने पिछली कई शताब्दियों की उर्दू और फ़ारसी की कविताओं की रिवायतों को रेखांकित करने के साथ-साथ उनके छंद विधान और साहित्यिक मूल्यों को भी आलोकित किया है। अपने अद्वितीय निबंध 'सबक़-ए-हिंदी' में उन्होंने विस्तार से भारतीय शायरों और भारत के प्रभाव में लिखी ईरानी शायरों की फ़ारसी की कविताओं की जो व्याख्या की है, वह उनकी इन सभ्यता के संवाद की गहरी समझ को बताती है।

इस निबंध में उन्होंने शिबली नोमानी जैसे 'सबक़-ए-हिंदी' के व्याख्याकारों की आलोचना करते हुए यह दर्शाया है कि कैसे अनेक जगह उन्होंने कई शायरों को विक्टोरियाई मूल्यों के आधार पर प्रश्नांकित करने हुए उन्हें कमतर

इन दिनों हमारे देश में सनातन परंपराओं की जो व्याख्याएँ की जा रही हैं उनमें से अधिकांश में विक्टोरियाई मूल्यों को ही इन परंपराओं का मुख्य आधार बताने की कोशिश है। विक्टोरियाई मूल्यों को भारतीय पारंपरिक मूल्यों की तरह प्रस्तुत करने की कहानी लंबी है और इसमें हमारी औपनिवेशीकरण के कारण पैदा हुई ग्लानि को कम करने के लिए उन मूल्यों को अपने मूल्य विधान में अनुकूलित करने का प्रयास महत्त्वपूर्ण रहा है।

बताकर भारी चूक की है। मैं सोचता हूँ कि यह प्रश्नांकन आज और अधिक प्रासंगिक हो गया है क्योंकि इन दिनों हमारे देश में सनातन परंपराओं की जो व्याख्याएँ की जा रही हैं उनमें से अधिकांश में विक्टोरियाई मूल्यों को ही इन परंपराओं का मुख्य आधार बताने की कोशिश है। विक्टोरियाई मूल्यों को भारतीय पारंपरिक मूल्यों की तरह प्रस्तुत करने की कहानी लंबी है और इसमें हमारी औपनिवेशीकरण के कारण

पैदा हुई ग्लानि को कम करने के लिए उन मूल्यों को अपने मूल्य विधान में अनुकूलित करने का प्रयास महत्त्वपूर्ण रहा है। फ़ारूक़ी साहब हमारे देश के उन बहुत थोड़े से लेखकों में है जिन्होंने हमारी समावेशी संस्कृति के विभिन्न अनुषंगों को उनके वैशिष्ट्य में देखा है। उनके अनेक निबंधों में अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के साहित्यिक मूल्यों की चर्चा होती है और वे इन्हीं मूल्यों के आलोक में उर्दू और फ़ारसी की सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शती की कविताओं को देखते हैं और उनसे निःसृत कल्पनाशील दृष्टियों को हमारे सामने रखते हैं।

4

इलाहाबाद में दूसरी शाम वे बार-बार हमसे कहते, 'तुम लोग गंगा जी के दर्शन कर आओ।' इलाहाबाद में कुंभ मेला ख़त्म हुए बहुत कम दिन हुए थे। सारी सड़कें प्रदेश और देश के शासकों के चेहरों से ढँकी महसूस होती थीं। जिधर देखो लंबे-से पोस्टर पर कोई मुस्कुराता शासक चेहरा नज़र आता था। मुझे यह पता था कि राजा हर्ष और उनके बाद के कई राजा कुंभ में अपना सारा ख़ज़ाना ख़ाली करने आते थे और अपने शरीर पर चढ़ी पोशाक को भी दान करके अपनी बहन से एक कपड़ा लेकर अपना शरीर ढँकते थे। कुंभ धार्मिक उतना नहीं जितना सामाजिक अवसर होता था। लेकिन आज के कुंभ में शासन का सारा ख़ज़ाना राजनेताओं के चेहरों को दिखाने में ख़र्च हो रहा है और उसका सामाजिक पक्ष कमज़ोर होता चला जा रहा है।

ऐसे कितने राजनेता हैं जो कुंभ में अपना ख़ज़ाना ख़ाली करते हैं और इस तरह अपना 'धन-बल' निःशेष कर अपनी स्वीकृति का सच्चा आधार ख़ुद अपने लिए उजागर करने की हिम्मत रखते हैं। यह कैसी विडंबना है कि हमारे समय में कवियों-लेखकों से कर्म की अपेक्षा रहती है। शब्द के सौंदर्य और उसमें अंतर्निहित नैतिक दृष्टि की नहीं जबकि राजनेता जिनका माध्यम कर्म है, वे कर्म करने की जगह सिर्फ़ शब्दों का इस्तेमाल करते हैं और अपनी अकर्मण्यता से शब्दों को झूठा करते जाते हैं। इस तरह कवि-लेखकों का काम कठिन करते हैं।

मैं त्रिवेणी संगम जाने में संकोच कर रहा था क्योंकि मैं कुंभ के बाद गंगा की हालत के बारे में पढ़ चुका था। लेकिन उनका मान रखते हुताशन और मैं वहाँ चले गए। कुंभ के मेले के जगह-जगह लगे तंबू उखड़ रहे थे। थोड़ी-सी दुकानों में हल्की-सी रोशनी थी जिनसे रोशनी का कम, आसपास फैले अँधेरे का अहसास कहीं अधिक होता था। फ़ारूक़ी साहब के शहर की गंगा जी का पानी लगभग काला पड़ गया था। यमुना जी भी वैसी ही थीं। यह कैसी सभ्यता है जिसमें अपने सम्मान्य को ही चोटिल किया जाता रहता है। या यह इस सभ्यता के ह्रास की ऐसी प्रक्रिया है जिसके हम साक्षी बने हुए हैं और जिसे धार्मिक शोरोगुल और शासन तंत्र की युक्तिहीनता की दीवारों से आँखों के दायरे से बाहर रखा जाता है। ऐसी कोई पैगन सभ्यता विश्वसनीय नहीं हो सकती जो अपने परिवेश, अपनी मनुष्येतर प्रकृति के प्रति पूरी तरह ग़ैर-ज़िम्मेदार हो। जब हम वापस घर पहुँचें, फ़ारूक़ी साहब हमारे अनुभव सुनकर वैसे ही निराश हो गए, जैसे हम थे।

5

उनके जाने के बाद उनका आख़िरी उपन्यास *क़ब्ज़े ज़मा* देवनागरी में प्रकाशित हुआ। इसका हिंदी रूपांतरण भोपाल में ही रिज़वानुल हक़ ने किया था और इसका एक हिस्सा उनकी बातचीत के साथ पहले ही प्रकाशित हुआ था। वे तीसरा उपन्यास लिख रहे थे। वह अधूरा ही छूट गया। उसके विषय में उन्होंने मुझे इतना बताया था कि वह शायद दो सदी पहले के लखनऊ के किन्हीं दो शुअरा के बीच हुए हिंस्र विवाद के चारों ओर बुना जाना था। उसमें सदी दो सदी पहले की लखनऊ की संस्कृति को धड़कना था जैसा कि *कई चाँद थे सरे आसमाँ* में उन्नीसवीं सदी की दिल्ली की संस्कृति धड़कती है। फ़ारूक़ी साहब के उपन्यासों और अफ़सानों के चरित्र का उनकी संस्कृति से गहरा ताल्लुक़ हुआ करता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि उनमें हरेक चरित्र का स्वभाव अपनी सांस्कृतिक परिवेश में ही उद्घाटित होता है इसीलिए उनके उपन्यास न सिर्फ़ विशेष चरित्रों की नियति को रेखांकित करते हैं बल्कि उनकी सांस्कृतिक चेतना के विस्तार, उसके चलन, उसकी ख़ुशबू को भी जीवंत कर देते हैं। मानों हम उनके चरित्रों के सहारे भारत के विशेष सांस्कृतिक आयामों को अनुभव कर रहे हों। इस मायने में वे उत्तर भारत के कुछ मुख्य शहरों की संस्कृति के दास्तानगो थे, इन संस्कृतियों के गाथाकार।

6

कोरोना के दौरान फ़ारूक़ी साहब ने अपनी आख़िरी कहानी 'फ़ानी बाक़ी' लिखी। इस कहानी में ऐसी कमाल की उठान है जो इसे चिंतनशील साहित्य की बहुत ऊँची पायदान पर रख देती है। इसकी हर पंक्ति मानों ऐसी सीढ़ी हो जिससे पाठक ऊपर और ऊपर चढ़ता जाता है और जल्द ही पाता है कि वह बाहर नहीं अपने ही 'अवघट' का सफ़र कर रहा है। इसे पढ़ते हुए महसूस होता है मानों आप *योगवाशिष्ठ* का कोई आख्यान पढ़ रहे हों। ऐसा होना आश्चर्य का विषय भी नहीं है। फ़ारूक़ी साहब जिस 'सबक़-ए-हिंदी' के सिद्धांतकार रहे हैं, उसके एक महान शायर मिर्ज़ा क़ादिर बेग़ 'बेदिल' (जिनका ग़ालिब की शायरी पर गहरा असर था और जिन्हें फ़ारूक़ी साहब पसंद करते थे।) ने *योगवाशिष्ठ* के आधार पर पूरी मसनवी लिखी है : *इरफ़ान*।

7

किसी एक मुलाक़ात के दौरान वे मुझसे बोले, 'अगर तुम्हें किसी पर यक़ीन हो तो तुम कम-से-कम उसके कंधे पर सिर टिका सकते हो।' वे यह कहते वक़्त मनुष्य से कहीं बृहत्तर और व्यापक सत्ता की ओर इशारा कर रहे थे और साथ ही लेखक के उस एकांत को भी जिसका कोई समाधान न ख़ुद उसके पास होता है, न किसी और के। यह कितनी अजीब बात है कि जो सारी उम्र साधारण में असाधारण (आचार्य आनंदवर्धन) की प्रतिष्ठा करता रहा, उसी के पास टिकाने को ऐसा कोई कंधा नहीं रहा जिसकी छाया उसके लिखे हर शब्द में काँपती है।